विस्तृत ढाँचा और कानून–बौनी होती क्षमताएँ

एच. के. दीवान

सरकारी ढांचे के कार्य करने के बारे में सोचते समय मुख्य तौर पर चार पहलू सामने आते हैं। पहला यह कि, सरकारी कर्मचारियों की खुद इसके काम करने के ढंग के बारे में या अपने साथियों के बारे में क्या राय है? दूसरा, आम लोग जिसमें सरकारी कर्मचारी भी शामिल हैं सरकारी नौकरी व सरकार द्वारा उपलब्ध सुविधाओं के बारे में क्या सोचते हैं और किस प्रकार के निर्णय लेते हैं? तीसरा, ये ढांचे नीति निर्धारण व इसको दूरस्थ रूप से चलाने वाले किस दिशा में सोचते प्रतीत होते हैं? यह भी देखना जरूरी होगा कि व्यापक रूप से सरकारी ढांचे के काम करने के बारे में किस तरह की तस्वीर उभरती है। क्या ऐसा है कि सरकारी ढांचा काम नहीं कर सकता? क्या सिर्फ स्थानीय कारणों की वजह से ढांचा काम नहीं करता हालांकि ढांचे का स्वरूप उससे अपेक्षाएं व निर्धारित कार्य करने का ढंग तो ठीक है। इन तीनों बातों पर गौर करना जरूरी है क्योंकि ये ही दिशा दिखाएंगे।

सरकारी कर्मचारियों के बारे में सोचे तो दो प्रमुख बातें

सामने आती है। एक तरफ तो उन्हें लगता है कि उनके पास बहुत ताकत है और वे बहुत कुछ कर सकते हैं लेकिन दूसरी तरफ, ज्यादा गहरी चर्चा करने पर वे सब के सब अपने आपको एक बड़े से चक्रव्यूह का छोटा सा हिस्सा पाते हैं। और अपने आपको असहाय पाते हैं। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि दोनों बातें सत्य हैं या नहीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि सरकारी कर्मचारी का सोच यही है। एक बड़ा ढांचा होने के कारण बहुत सी भ्रान्तियां व साथ ही नियमों की वास्तविक अवहेलना के उदाहरण भी उनके दिमाग में रहते हैं। बहुतों को लगता है कि वे तो काम करना चाहते हैं लेकिन उनके साथ ही उनके आला-अफसर और यहां तक के उनके मातहत ही उनको काम नहीं करने देते। पूरे ढांचे में अजीब-सी एक अकर्मण्यता है।

पिछले कुछ दिनों के दौरान घूम रहा एस.एम.एस. संदेश व उस पर प्रतिक्रिया इस बात की जैसे पुष्टि करता है। संदेश भारत के सरकारी कर्मचारियों व सरकारी सेवाओं की उपयोगिता के बारे में है। मसौदा कुछ ऐसा है, "भारतीय सरकारी अस्पतालों में जाना पसंद नहीं करते", "वे सरकारी स्कूलों में नहीं जाना पसंद करते।" "वे किसी सरकारी बस से यात्रा नहीं करना चाहते" "किन्तु लगभग सभी की इच्छा यही है कि उन्हें एक सरकारी नौकरी मिल जाए।"

एक समय शायद यह ज्यादा उन भारतीयों के बारे में था जो 'Indians' हैं। उनके पास पैसा है और सेवाएँ उपभोग के ज्यादा विकल्प हैं। किन्तु अब तो 'गरीब भारत' को भी यह समझ आ गया है कि सरकारी नौकरी मिलना तो जरूरी है, लेकिन सरकारी स्कूल, सरकारी अस्पताल, सरकारी वाहन में जाने से कम लाभ है। आगे बढ़ने का रास्ता सरकारी नौकरी पा कर निजी संस्थाओं की सेवाओं तक की पहुँच बना पाना। मुफ्त खाना, मुफ्त किताबों की सरकारी स्कूलों में व्यवस्था के बावजूद भी फीस देकर, किताब खरीद कर, खाने पर खर्चा करके निजी शाला बेहतर विकल्प समझा जाता है। यही हाल अस्पताल का है और कमोबेश बसों का भी। याने जहां भी विकल्प है, वहाँ गैर-सरकारी संस्थानों में जाना ही अकलमंदी है।

यह SMS मैंने कुछ ऐसे लोगों को भी भेजा जो सरकार के अलग-अलग विभागों में अलग-अलग स्थानों पर हैं। इनके पास जिम्मेदारियां भी अलग-अलग हैं। कुछ पीएस.यू. में भी कार्यरत हैं और कुछ स्टेट सरकार में। यह हैरानी नहीं है कि इसने सभी लोगों को छुआ। कुछ ने कहा कि सरकारी नौकरी में कोई काम ही नहीं होता है। यह तो मुफ्त का इनाम है। कुछ ने कुछ और कहा पर किसी ने नहीं कहा यह गलत है। सरकारी अधिकारियों ने भी यही कहा, यह तो सच ही है।

एक समय तक यह सब मजाक था कि सरकारी नौकरी मिली और लोग चिढ़ाने के लिए तैयार। मित्र लोग यही कहते थे कि चलो सरकारी नौकरी लगी याने अभी से पेंशन लग गई न कोई काम न धाम, घर बैठे तनख्वाह। अब यह मामला मज़ाक की श्रेणी से निकल कर एक डरावने यथार्थ के रूप में है। अब लोग किसी पर ऐसा मजाक नहीं करते। क्योंकि हममें से अधिकांश मानते हैं कि ऐसा तो है ही। यह कहना मुश्किल है कि यह कितना सच है कि सरकारी कर्मचारी काम नहीं करते। क्योंकि मैं स्वयं बहुत से ऐसे सरकारी नौकरी कर रहे लोगों से परिचित हूं जो बहुत ही व्यस्त रहते हैं। लेकिन वे सभी भी यही मानते हैं कि सरकारी दफ्तर में अधिकांश लोग काम नहीं करते। कई लोग तो यहां तक कहते हैं कि क्योंकि बहुत ज्यादा बड़ा महकमा है इसलिए वह काम करने व करवाने के स्थान पर उसमें अड़चन पैदा करने में मशगूल हैं।

सामान्य लोगों से बात करें तो ऐसा लगता है कि उन्हें सरकारी सेवाओं में कोई विश्वास नहीं है। मजबूरी हो तो ही सरकारी सेवा संस्थान में जाना चाहिए, नहीं तो किसी भी तरह का, किसी भी दर्जे का हो, प्राइवेट संस्थान ही बेहतर है। सरकारी सेवा के ढांचे पर लोग अपना अधिकार समझते हैं। कुछ भी गड़बड़ हो जाए तो सरकारी ढांचे की सम्पत्ति को तहस-नहस करना उन्हें अपने गुस्से की जायज अभिव्यक्ति

लगती है। हमारी समझ यह है कि प्राइवेट संस्थाओं को तो कुछ नहीं कहा जा सकता लेकिन सरकारी संस्थानों में थोड़ा सा भी मौका मिलने पर हम कर्मचारियों पर व पूरी सरकार पर पिल पड़ते हैं।

वैसे अगर कोई सरसरी तौर पर भी देखे तो सरकारी कार्यालय का सामान्य माहौल ऐसा नहीं जो लोगों को उत्साह दिलवाए और उनसे रूचि लेकर सामान्य लोगों के पक्ष में योजनाओं की क्रियान्वति करवाए। कोई भी कर्मचारी किसी कार्य को जोश से करवाने का प्रयास करे तो वह शक के दायरे में आ जाता है। सवाल यह उठता है कि "इसमें आपका क्या व्यक्तिगत स्वार्थ है?" इसीलिए अमूमन सभी फाईल पर टिप्पणी लिख कर इधर से उधर दौड़ाते रहते हैं। पत्रकार या आम जनता इन कागज़ी घोड़ों के बारे में कुछ भी कहे किन्तु कोई भी व्यक्ति आवश्यकता से अधिक रूचि लेकर किसी काम को नहीं करवाना चाहता और चाहे भी तो नहीं करवा सकता। हालांकि यदि दबाव, प्रलोभन या मित्रता हो तो काम होना मुश्किल नहीं है। यहां तक कि नियम अगर थोड़े बहुत आड़े भी आते हों तो भी। पर इसमें सबका हिस्सा होना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि ये हालात किसी से छुपे हैं। और ऐसा भी है कि हर मेज़ के पीछे बैठा व्यक्ति कभी न कभी अपने आपको मेज के सामने भी खड़ा पाता है। किन्तु फिर भी मेज़ के पीछे दोबारा पहुंचने के बाद उसे अपना अनुभव व अपनी मनोस्थिति ठीक से याद नहीं रहती। यह भी हो सकता है कि यह और भी ज्यादा तीक्ष्ण बर्ताव में बदल जाए मानो इससे बदला मिल जाएगा और अपने प्रति व्यवहार की भरपाई हो जाएगी। साहित्य में, वृत्त चित्रों में और अब तो लोक सिनेमा में भी व्यवस्था के कार्य करने के ढंग, उसमें फंसे हर व्यक्ति और हर अधिकारी की एक ओर असहाय और दूसरी ओर cynical मनोस्थिति हमें बार-बार याद दिलाती है कि हमारे द्वारा हमारे लिए बनाया गया ढांचा अब हम पर चढ़ बैठा है। उसने हम सबको ऐसा गिरफ्त में लिया है कि हम उसके अनुसार चलने को, उनकी शर्तों पर जीने को और अब धीरे-धीरे उसके अनुसार सोचने को मजबूर होते जा रहे हैं। जैसे-जैसे दुनिया तथाकथित रूप से छोटी होती जा रही है और ढांचा बढ़ा, वैसे-वैसे हम व्यक्ति के रूप में बौने होते जा रहे हैं।

हमारा यह बौनापन एक तरफ नैराश्य उत्पन्न करता है तो दूसरी तरफ वह हमें तात्कालिक भोग व गैर जिम्मेदारी की ओर ठेलता है। मैं क्यों ठेका लूं परिस्थिति को ठीक करने का। यह इस बात का भी प्रतीक है कि मैं यह नहीं समझता कि यह मेरा काम है और मुझे नहीं लगता कि अब कुछ भी ठीक हो सकता है। आज की परिस्थिति में सामूहिक हित में समय, पूंजी व विश्वास का नियोजन करना धीरे-धीरे घटता जा रहा है। सब लोग यही समझते प्रतीत होते हैं कि उन्हें थोड़े ही समय में आश्चर्यजनक व्यक्तिगत सफलता मिल जाए, चाहे वह अन्य लोगों की भलाई के संदर्भ में ही हो।

स्कूल जिनके बारे में कहा जाता है कि वहां पढ़ाई नहीं होती, के शिक्षक इतने अधिक कार्य होने की शिकायत करते हैं कि ऐसा लगता है कहीं उनके साथ अन्याय ही हो रहा है। यही या इससे भी खराब हाल सरकारी डॉक्टरों का है। याने हमारे सामने एक सवाल तो यह है कि सरकारी कर्मचारियों और उसकी सुविधाओं का उपयोग करने वाले लोगों के perception के बीच इतना फर्क क्यों है। अधिकांश लोग यही समझते हैं और उन्हें यही लगता है कि लगभग सभी सरकारी कर्मचारी उत्साह व लगन से काम नहीं करते।

स्वास्थ्य और शिक्षा के क्षेत्र में धीरे-धीरे प्राइवेट संस्थानों का दबदबा बढ़ता जा रहा है। न सिर्फ उनकी संख्या बढ़ी है वरन् उनमें उपलब्ध सुविधाएं भी बेहतर होती प्रतीत होती हैं। लगभग हरेक गांव के आसपास ऐसी व्यवस्था है कि वहां के बच्चों को पास के किसी प्राइवेट स्कूल में ले जाया जा सकेगा। हर बड़े शहर में बड़े-बड़े सरकारी अस्पतालों के बराबर और कहीं-कहीं उनसे ज्यादा साजो-सामान वाले प्राइवेट अस्पताल खड़े हो गए हैं। छोटे शहरों में भी बहुत से प्राइवेट अस्पताल

और नर्सिंग होम पिछले 15-20 वर्षों में बने हैं। गांव में पीएच.सी. हो या ना हो बंगाली डॉक्टर या उसका कोई समतुल्य व्यवस्था निजी क्षेत्र में उपलब्ध है। शिक्षा के क्षेत्र में भी प्राइवेट स्कूलों की पहुंच गांव-गांव तक हो गई है। ऐसा नहीं है कि प्राइवेट स्कूल में पढ़ाने वाले शिक्षक सरकारी स्कूलों के शिक्षकों से ज्यादा सक्षम हैं। न तो उनके पास ज्यादा बेहतर डिग्री है और ना ही बेहतर समझ। अगर उनसे विषय के बारे में बातचीत की जाए तो उनकी समझ किसी भी मायने में सरकारी स्कूल के शिक्षकों से कम होगी। सरकारी स्कूल के शिक्षकों के पास अनुभव ज्यादा है स्थायित्व है। इन सब से ऐसा लगता है कि सरकारी स्कूल के शिक्षकों में अपने कार्य के प्रति ज्यादा गंभीरता व प्रतिबद्धतता का अभाव है।

यह सवाल महत्त्वपूर्ण इसलिए है क्योंकि बहुत से सरकारी स्कूल और बहुत से सरकारी अस्पतालों के विशेष विभाग इस प्रकार की छवि रखते हैं जिससे कि लोगों में उनके प्रति गहरा विश्वास उमड़ता है। हर राज्य में ऐसे सरकारी स्कूल हैं जिनके छात्र/छात्राएँ ना सिर्फ परीक्षाओं में बहुत अच्छा करते हैं वरन् अन्य मंचों पर भी प्रभावित करते हैं। इनमें से कई स्कूल तो ऐसे हैं जो साल दर साल अपना स्तर बनाये चले आ रहे हैं। यही बात अस्पतालों के कुछ विभागों के साथ भी है। पर इनकी संख्या व इनकी साख धीरे-धीरे घट रही है। जहाँ इनके स्तर के समकक्ष प्राइवेट संस्थान जगमगा रहे हैं, इनका चरमराना व ढांचे का आकर्षण घटता जाता है। चूंकि इस तरह के इक्का-दुक्का नहीं काफी उदाहरण हैं। अतः यह सोचना आवश्यक है कि ऐसा क्यों है? दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी हैं जो अभी भी अपने ढांचे को कुछ हद तक बरकरार रख पाए हैं। इसलिए यह मानना कि सरकारी ढांचा सेवा क्षेत्र में काम नहीं कर सकता ठीक नहीं है। लेकिन लोगों की धारणा व अविश्वास का क्या करें? और इतने सारे न काम कर रहे नाकारा ढांचों का क्या करें।

एक प्रमुख बात जो सरकारी ढांचे के कार्य करने के सन्दर्भ में सोचने की जरूरत है वो है उसके कार्य करने में सकारात्मक व नकारात्मक हस्तक्षेप की तथा ढांचे के कर्णधारों की। किसी भी ढांचे को कार्य करने में यह आवश्यक होता है कि वह पहचान पाएं कि कौन लोग काम कर रहे हैं कौन नहीं काम कर रहे हैं। जो नहीं काम कर रहे हैं, उन्हें काम करने के लिए कैसे प्रेरित करना है। ढांचे को यह भी पता हो कि उसका प्रमुख काम क्या है और वह काम करने वाले लोगों को नये रास्ते इजाद करने की, ज्यादा बेहतर ढंग से काम करने की स्वतंत्रता दे पाए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जो लोग अच्छा काम कर रहे हैं और जिनमें ज्यादा बेहतर संभावनाएं हो उन्हें पहचान कर व्यापक जिम्मेदारी दे पाएं। ढांचे के कर्णधार चाहे वो राजनेता हो, चाहे आला-अफसर, वे अपने मातहतों के काम को इज्जत दें और हर काम का क्रेडिट खुद न लें। उनके लिए व अन्य लोगों के लिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं होना चाहिए कि उन्होंने क्या शुरू किया, वरन् महत्वपूर्ण यह होना चाहिए कि किससे ढांचे के लक्ष्यों की बेहतर पूर्ति होती है। हमारे देश में विविधता है और हम सब इस बात को बार-बार कहते हैं कि यह विविधता हमारे देश का आधार है। लेकिन इस विविधता को स्वीकार करने के बावजूद भी हमारी नीतियां ऐसे निर्धारित होती हैं जिनमें विविधता की बहुत कम गुंजाइश हो। नियम भी ऐसे बनते हैं जिनमें स्थानीय स्तर पर कार्य कर रहे कर्मचारी को कुछ भी अपने तरह से सोचने का मौका नहीं है। उसे वही करना है जो आदेश दिये गए हैं। अक्सर योजनाओं में यह प्रावधान किया जाता है कि स्थानीय स्तर पर प्रस्ताव बन कर अनुमोदन के लिए भेजे जाएंगे। पर उन प्रस्तावों का ढांचा व किन मुद्दों पर प्रस्ताव बन सकते हैं यह पूर्व निर्धारित होता है। और फिर प्रस्ताव को अनुमोदित करने के लिए एक सार्वभौमिक आधार की जरूरत होती है, यानी कुल मिलाकर जो भी विविधता की गुंजाइश थी वह कदम-दर-कदम विलुप्त हो जाती है।

मजेदार बात यह है कि नया करने में कुछ पुराने तत्व हर बार शामिल हो जाते हैं। पहला तो यह कि सभी को अधिकारी के विचारों व निर्देशों के अनुसार चलना है। उन्हें

स्वयं सोचने व वैकल्पिक रास्ते खोजने की कोई जरूरत नहीं है। कार्य को एक गति से होना आवश्यक है ताकि उस अधिकारी के कार्यकाल में उसकी पहुँच दूर-दूर तक हो जाए। यह भी अपेक्षा है कि जो काम 50 साल या 100 साल में नहीं हो पाया वह साल भर में हो जाए। हर काम मिशन मूड में करा जाएगा। मिशन आया और गया, एक झटके में काम हो गया। मानो कोई ढांचा खड़ा करना और शिक्षा की गुणवत्ता सुधारना एक जैसा हो। शिक्षा में गुणवत्ता स्कूलों की कक्षाओं में रोज घटने वाले संवाद पर आधारित है। संवाद समाज के विभिन्न हिस्सों से आए बच्चों व उसी समाज के कुछ हिस्सों से आए जो शिक्षकों के बीच है इसकी गुणवत्ता को बनाए रखना एक सतत् प्रयास ही हो सकता है। इसको जानने के बावजूद हमारा प्रयास ढांचे को समझ कर उसके साथ लम्बे समय में जूझने का नहीं होता। ढांचे में पुराने लक्ष्यों को याद करके उन पर कार्य करने की क्षमता ही नहीं है।

यह भी एक कारण है हाल में योजनाओं के बाद नीतियों/कानून की बाढ़ का। हमें लगता है कि हर चीज़ नीति व कानून बना देने से हो जाएगी। बच्चे स्कूल नहीं आते कानून बना दो, बच्चे सीख नहीं रहे कानून बना दो। बच्चों को अच्छी शिक्षा नहीं मिल रही कानून में डाल दो। बच्चे सरकारी स्कूल छोड़ कर प्राइवेट स्कूल जा रहे हैं, उनमें ऐसी नकेल डालो कि नाको चने चबाने पड़ें या फिर कोई और रास्ता निकालना पड़े। ऐसा लगता है कि हमारे पास ढांचे को इंसानों को प्रेरित करने की कोई भी इंसानी योजना नहीं है। जो भी है वह यांत्रिक है अथवा कानूनी है। लोगों के पास कार्य में रोड़ा अटकाने का तो अधिकार है किन्तु काम को त्वरित करने का नहीं। हर कानून के साथ समितियाँ बनती हैं, उनकी नियमावली बनती है और करने वालों के हाथ-पैर कुछ और बंध जाते हैं। कुछ कानूनों में कुछ समय तक लाभ होता है धीरे-धीरे उसके लिए भी रास्ते बन जाते हैं।

कुछ लोगों ने मिल कर एक शोध किया था। इस शोध में मैं भी कुछ हद तक शामिल था। दो अलग-अलग राज्यों में शिक्षा के स्कूल स्तर के ढांचे के बारे में कुछ जानकारी पता की थी। इसमें एक बहुत रोचक बात हमारे सबके जहन में कौंधी और वह थी कि जैसे कोई योजना बनती है, सुधार का कोई विचार पनपता है, उसके अन्दर ही उसके विरोध व यथास्थिति को बनाए रखने के तत्व शामिल रहते हैं। यह सोच-समझ कर होता है या फिर ढांचे के कार्य व्यवहार के स्वरूप में ही निहित है, यह कहना आसान नहीं है। किन्तु यह स्पष्ट रूप से दिख रहा है कि हरेक कदम में उसके असर को कारगर होने से रोकने के तत्व स्पष्ट रूप से थे। इसलिए यह सवाल महत्वपूर्ण है कि हम क्या करें। इस चरमराते लगातार बढ़ते व oppressive होते ढांचे से कैसे जूझें।
